बहुवचन

हिंदी की अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक पत्रिका

अंक : 83-84-85 (संयुक्तांक) : अक्टूबर 2024 - जून 2025 : UGC-CARE Listed ISSN : 2348-4586

संरक्षक

प्रो. कुमुद शर्मा
कुलपति

परामर्श
अधिष्ठाता, समस्त विद्यापीठ

सलाहकार संपादक
डॉ. रामानुज अस्थाना

संपादक मंडल
प्रो. जी. गोपीनाथन
प्रो. हरमहेंद्र सिंह बेदी
प्रो. कुलदीप चंद अग्निहोत्री
डॉ. प्रेम शंकर त्रिपाठी
डॉ. उदय प्रताप सिंह

संपादक
प्रो. कृपाशंकर चौबे

सहायक संपादक
डॉ. अमित कुमार विश्वास

संपादकीय सहयोगी
डॉ. कुलदीप कुमार पाण्डेय

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

बहुवचन
हिंदी की अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक पत्रिका
अंक : 83-84-85 (अक्टूबर 2024 - जून 2025)
UGC-CARE Listed, ISSN : 2348-4586

प्रकाशक : महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)

संपादकीय संपर्क :
बहुवचन
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
गांधी हिल्स, पोस्ट-हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)
मो. 9970244359, ई-मेल : bahuvachan@hindivishwa.ac.in

प्रकाशन प्रभारी : राजेश कुमार यादव

© **संबंधित लेखकों एवं रचनाकारों द्वारा सुरक्षित**
प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा या संपादक मंडल की सहमति अनिवार्य नहीं है। न्याय क्षेत्र : वर्धा।

बिक्री एवं प्रसार
प्रकाशन एकक, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
गांधी हिल्स, पोस्ट-हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र) भारत
फोन : 07152-232943, मोबाइल नं. (वाट्सएप सहित) 9730193094
ई-मेल : pub.mgahv@gmail.com वेबसाइट : www.hindivishwa.org

आवरण
राजेश आगरकर

अक्षर संयोजन एवं पृष्ठ सज्जा
विजय खोब्रागडे

वार्षिक सदस्यता के लिए केवल ऑनलाइन शुल्क भेजने का विवरण निम्न है-
Name : Finance Officer, Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya, Wardha
Bank Name : Bank of India, Wardha, Branch : Hindi Vishwavidyalaya, Wardha
Account No. : 972110210000005, IFSC : BKID0009721

मूल्य - विशेषांक अंक : रु. 300/-, वार्षिक शुल्क रु. 400/-
विदेश में : हवाई डाक : एक प्रति 10 अमेरिकी डॉलर, 8 ब्रिटिश पाउंड

BAHUVACHAN
A QUARTERLY INTERNATIONAL JOURNAL IN HINDI
PUBLISHED BY : MAHATMA GANDHI ANTARRASHTRIYA HINDI VISHWAVIDYALAYA
GANDHI HILLS, POST-HINDI VISHWAVIDYALAYA, WARDHA-442001 (MAHARASHTRA) INDIA.

अनुक्रम

आरंभिक	05
जीवन भर उत्सव बने रहे / कुमुद शर्मा	09
साहित्य-यात्रा के कुछ पड़ाव / गिरीश्वर मिश्र	13
लोक से जुड़ा लालित्य / हेमंत शर्मा	22
निबंध और जीवन का उत्सव / नीरजा माधव	28
सघन जीवन-राग का सर्जक / अखिलेश कुमार दुबे	43
मन के विस्तृत आंगन में लालित्य का विस्तार / अर्चना त्रिपाठी	51
पंडित जी के निबंधों की वैचारिक चेतना / कृष्णगोपाल मिश्र	56
एक पत्र भ्रमरानंद के नाम / प्रेम जनमेजय	65
भ्रमरानंद के पत्रों में भारतीयता के स्वर / अमित कुमार	71
गांव से अनचीह्नी दिल्ली तक / सत्येंद्र शर्मा	80
आत्म का विस्तार और परिष्कार करते यात्रा-संस्मरण / सतीश पाण्डेय	86
देश-काल का परस्पर विस्तार / रामसुधार सिंह	104
रैन बसेरे में आत्मीयता का वास / अशोक नाथ त्रिपाठी	111
सपने कहां गए : ऐतिहासिक महत्त्व का दस्तावेज / हितेंद्र पटेल	116
स्मृति-सागर में मोती चुनते पंडित जी / आरती स्मित	127
बहुलपाठों का वृंदगान / अनामिका	142
कविता को कहती कविताओं को सुनते हुए / प्रकाश उदय	146
भोजपुरी से पंडित जी का नाता / सत्यवीर	152
राम और कृष्ण विषयक चिंतन / विश्वास पाटील	159
राम के स्वभाव और शील का अनुशीलन / आस्था शुक्ला	167
'चिति' में रामलला का लालित्य / वागीश राज शुक्ल	172
महाभारत के प्रति दृष्टिकोण / विकास मिश्र	178
संस्कृत साहित्य के ऐतिह्य की परख / गायत्री प्रसाद पाण्डेय	189
हिंदी साहित्य का पुनरावलोकन / भारती गोरे	195
भक्तिकालीन काव्य-विमर्श / माधव हाड़ा	200
विद्यापति को समझने के सूत्र / के. एन. तिवारी	208
साहित्य-चिंतन के आयाम / श्रीप्रकाश मिश्र	212

लोक संस्कृति का वैभव / कृष्ण कुमार सिंह 219
लोक के लिए वैचारिक संघर्ष / राजेंद्र रंजन चतुर्वेदी 227
लोकाचार का सृजन और वैदुष्य / अष्टभुजा शुक्ल 233
सख्य और माधुर्य भाव : आत्मीयता की तलाश / सचिन शुक्ला 241
कला और सौंदर्य : चिंतन-दृष्टि / नर्मदा प्रसाद उपाध्याय 254
भाषा-चिंतन / दिलीप सिंह 264
भारतीय भाषा-दर्शन / ऋषि भूषण चौबे 276
भाषा का लोकतात्त्विक विश्लेषण / दीपेश कुमार 283
हिंदी की अकूत संपदा और लोक-शब्दों की अपार समृद्धि / सत्यदेव त्रिपाठी 288
भारतबोध : चराचरसंवेदी एकात्मकता / अंबिकादत्त शर्मा 297
परंपरा, इतिहास और भारतबोध / मनोज पाण्डेय 303
भारत-दृष्टि / सूर्यप्रकाश पाण्डेय 313
सनातन संस्कृति एवं भारतीयता के अमृत पुत्र / अवधेश कुमार 326
परंपरा और पांडित्य का साहचर्य / उमेश चतुर्वेदी 332
विद्यानिवास मिश्र का परंपरा-बोध / चित्तरंजन मिश्र 337
धर्म की असमाप्त मीमांसा / श्यामसुंदर दुबे 344
धर्म-विषयक चिंतन / अजयेन्द्रनाथ त्रिवेदी 359
हिंदू जीवन दृष्टि के भाष्यकार / शंभु जोशी 365
लोक-जीवन में पर्वों की महत्ता का अंकन / प्रतिभा मिश्र 374
सांस्कृतिक मानस / इंदीवर 381
संस्कृति-विमर्श में परंपरा तथा आधुनिकता / तनुज जैन 391
पंडित जी की शिक्षा-दृष्टि / ऋषभ कुमार मिश्र 399
मुकुर निज पानी में प्रतिबिंबित बानी / अवधेश प्रधान 406
गंगातट से भूमध्यसागर तक : स्पेनिश दार्शनिक रॉफेल अर्गुलाई से संवाद / आनंद मिश्र 411
शिरीष की पहचान का संकट / गोविंद सिंह 417
पत्रकारिता में अवदान / अख्तर आलम 424
पत्रकारिता की भारतीय दृष्टि / राजेश लेहकपुरे 430
पं. विद्यानिवास मिश्र की काशी / अभिषेक कुमार यादव 439
आकाशवाणी के दुर्लभ संस्मरण / दिशा जगूड़ी 448
शताब्दी वर्ष में संवाद की पुनर्रचना : सांस्कृतिक पाठ / मनीष कुमार मिश्रा 456
रचनाकारों के पते 461

भक्तिकालीन काव्य-विमर्श

माधव हाड़ा

विद्यानिवास मिश्र आधुनिक समय में भारतीय प्रज्ञा के शिखर पुरुष थे। उन्होंने साहित्य की लगभग सभी विधाओं को अपनी निरंतर और अर्थपूर्ण रचनात्मक सक्रियता से समृद्ध किया। उनकी रचनाओं में भारतीय परंपरा की स्मृति और संस्कार का सघन निवेश है और साथ ही आधुनिकता की देशज चेतना भी है। अपने ललित निबंधों के लिए विख्यात विद्यानिवास मिश्र ने भारतीय भक्ति चेतना के विभिन्न पहलुओं पर भी गंभीरता से विचार किया। मध्यकालीन साहित्य से संबंधित उनके विचार इस साहित्य के मान्य और विख्यात विद्वानों के विचारों की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण और प्रासंगिक हैं। उन्होंने मध्यकालीन साहित्य की लगभग सभी प्रवृत्तियों और कृतिकारों के अवदान और वैशिष्ट्य पर विचार किया। उनकी दृष्टि इस विवेचन-विश्लेषण में नकारात्मक और छिद्रान्वेषी होने की जगह, सकारात्मक और सहानुभूतिपूर्ण है। उन्होंने मध्यकालीन साहित्य के आकलन और मूल्यांकन में अपने समय और समाज की कसौटियों का इस्तेमाल बहुत कम किया। उन्होंने आग्रहपूर्वक मध्यकाल के समय और समाज की खास सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितिकी को इसके लिए आधार बनाया। उनके यहां मध्यकालीन साहित्य के आकलन-मूल्यांकन में कोई वैचारिक दुराग्रह भी नहीं है। उनके यहां मूल्यांकन के लिए कृतिकारों के चयन में जाति और धर्म की भी संकीर्णता भी कोई नहीं है। खास बात यह है कि अपने आकलन-मूल्यांकन में उन्होंने आधार कृतिकारों की रचनाओं को बनाया। हिंदी में गत कुछ समय से यह रिवाज आम हो गया कि मध्यकालीन साहित्य की आलोचना और मूल्यांकन पाठ को लगभग हाशिए पर रखकर किया जाता है। विद्यानिवास मिश्र की खास बात यह है कि उनकी आलोचना और मूल्यांकन पाठ पर निर्भर है। उन्होंने अपने निष्कर्षों को पुष्ट रचनाओं के साक्ष्य से किया है। यह बहुत सुखद है कि उनकी ऐसी सभी आलोचनात्मक टिप्पणियां और आलेख रचनावली के इस खंड में 'तुम दिया हम बाती' शीर्षक एक साथ संकलित हो गए हैं। विद्यानिवास मिश्र के मध्यकालीन साहित्य संबंधी इन बीज विचारों के आगे पल्लवन से हिंदी आलोचना अपने को समृद्ध करेगी और इसका दायरा भी विस्तृत होगा।

1.

हिंदी में जिसे आमतौर पर संत काव्य धारा कहा जाता है, विद्यानिवास मिश्र ने उस पर विस्तार से विचार किया है। हिंदी में संत काव्य और निर्गुण भक्ति की सैद्धांतिकी के निर्माण का काम रामचंद्र शुक्ल के प्रभाव में शुरू हुआ। मध्यकालीन संत-भक्ति साहित्य का जो विभाजन और वर्गीकरण रामचंद्र शुक्ल ने आरंभ किया, वह धीरे-धीरे रूढ़ि में बदल गया। बाद में, इस पर पुनर्विचार

और रद्दोबदल नहीं के बराबर हुआ। यह सुखद है कि विद्यानिवास मिश्र ने इस पर विचार किया है। उनका मानना है कि हिंदी के मध्यकालीन संत-भक्ति साहित्य का सगुण-निर्गुण और निर्गुण का फिर आगे प्रेम और ज्ञान मार्ग में वर्गीकरण और विभाजन युक्तिसंगत नहीं है। उन्होंने इस संबंध में साफ लिखा है कि—"लोगों के मन में मोटा-सा हिसाब रामचंद्र शुक्ल की कृपा से बन गया है कि भक्ति काव्य का दो टूक विभाजन सगुण और निर्गुण में और निर्गुण का दो टूक विभाजन ज्ञानश्रयी और प्रेमाश्रयी में। लोग यह नहीं समझते कि ये नाम केवल कुछ मुख्य अभिलक्षणों को लेकर दिए जाते हैं। अन्यथा कविता किसी कोटि को स्वीकार नहीं करती।" उन्होंने अपनी इस धारणा की पुष्टि के लिए दादू, सुंदरदास, गुरु नानकदेव, मीरां, तुलसीदास, कबीर, रज्जब आदि के उदाहरण दिए हैं। दादू की कविता पर इस दृष्टि से विचार करते हुए उन्होंने लिखा है कि—दादू में प्रेमरस तो है ही, जहां ज्ञान विचार है, वहां भी बड़ी सहजता है। तू और मैं के संवाद को दादू ने ऐसा बांधा है कि मैं का अपने आप तू में विलयन हो जाता है, तत्त्वमसि के अनुभव को दादू ने बड़ी हृदयंगम भाषा में अभिव्यक्ति दी है। आगे वे इसको धरमदास के उदाहरण से और पुष्ट करते हैं। वे लिखते हैं कि—"इसी भाव को धरमदास ने राजसी रूपक में बांधा है—गगन के महल में झड़ी लगी है, वहीं बादल गरजते हैं, अनहद नाद गूंजता है, वहीं बिजली चमकती है, कौंध होती है अंतर्ज्ञान की, वहीं अरूप सौंदर्य की लहर उठती है। अवर्णनीय शोभा है। शून्य समाधि की स्थिति में यह अमृत वर्षा होती है। इसी प्रेम के आनंद में साधु नहाता है।" विद्यानिवास मिश्र संत कवियों की कविता के कविता तत्त्व पर भी विचार किया है। आमतौर पर यह माना जाता है निर्गुण कवि संत हैं और उनका कवि सचेत कवि नहीं है। विद्यानिवास मिश्र की राय इससे अलग है। उनका मानना है कि वे सचेत कवि भी हैं। उन्होंने एक जगह लिखा है कि—"निर्गुण कवियों में काव्यरस की कोई कमी नहीं है, उनकी वाणी में अटपटापन है और भाषा के परिमार्जन की चिंता नहीं है, परंतु वे कवि कर्म के प्रति ऐसे अचेत नहीं हैं, यदि होते तो उनमें रागों की बंदिश का ऐसा निखार नहीं होता।" संत कवियों की भाषा के संबंध में भी उनकी राय अलग और बहुत महत्त्वपूर्ण है। आरंभिक हिंदी आलोचकों ने इन कवियों के भाषा की अलग प्रकृति को जाने-समझे बिना इसको 'खिचड़ी' कह दिया, जो युक्तिसंगत नहीं है। विद्यानिवास मिश्र के अनुसार यह भाषा सधुक्कड़ी है। उन्होंने एक जगह लिखा है कि—"संत कवियों ने बहुत व्यापक रूप से भक्ति के प्रचार के लिए ऐसी भाषा का प्रयोग किया है, जो एक क्षेत्र की नहीं हो सकती। वह अनेक क्षेत्रों की सधुक्कड़ी भाषा है, जिसे खिचड़ी न कहकर रमता साधुओं के मिलने-जुलने से विकसित स्वतंत्र भाषा मानी जानी चाहिए।"

उन्होंने प्रवृत्तिगत आलोचना और मूल्यांकन के साथ इस धारा के कबीर, दादू, रैदास धरमदास, पलटू, सुंदरदास आदि पर अलग से भी विचार किया है। कबीर की कविता पर विद्यानिवास मिश्र मुग्ध हैं। कबीर के महत्त्व के संबंध में उन्होंने लिखा है कि—"पहली बार मैंने कबीर को पढ़ा तो मुझे लगा कि और पढ़ना है, अपढ़ को पढ़ने के लिए मैंने जो पढ़ा है उसे अनपढ़ना है और जो सीखा है, उसे अनसीखना है।" रैदास के संबंध में हिंदी में बहुत लिखा गया है और दलित पहचान के बढ़ते आग्रह के कारण वे विमर्श के केंद्र में भी हैं। विद्यानिवास मिश्र ने रैदास पर विचार करते हुए कई सर्वथा नई बातें कही हैं। उनके अनुसार रैदास मध्यकालीन की कथित सगुण-निर्गुण, दोनों परंपराओं के उत्तराधिकारी हैं। उन्होंने इस संबंध में लिखा है कि—"रैदास दो परंपराओं के उत्तराधिकारी

थे—सगुण भक्ति परंपरा और निर्गुण भक्ति परंपरा।" दादू के महत्त्व और हिंदी आलोचना में उनकी अवहेलना पर भी उन्होंने मनोयोग से विचार किया है। उन्होंने एक जगह लिखा है कि—"कबीर के कुछ समय बाद ही हुए हैं—दादूदयाल, जिनकी वाणी का पहले प्रसार राजस्थान और पंजाब में हुआ, बाद में योग्य शिष्य परंपरा के कारण उनकी शाखाएं-प्रशाखाएं बहुत दूर तक गईं। सुंदरदास, रज्जबदास के द्वारा हिंदू-मुस्लिम सभी प्रकार के भक्त उनकी मिठास से जुड़े। यारी साहब, बुल्ला साहब, दरिया साहब, पलटू साहब, गुलाल साहब—ये सभी दादूदयाल की परंपरा को आगे बढ़ाने वाले हैं। दादूदयाल की मिठास से सबसे पहले आचार्य क्षितिमोहन सेन आकृष्ट हुए, पर अभी उनके काव्य का अच्छी तरह मूल्यांकन नहीं हुआ है।"

2.

विद्यानिवास का मन हिंदी में सगुण भक्ति काव्य कहे जाने वाले काव्य में रमता है। कहना चाहिए कि यह उनका मनोनीत क्षेत्र है। उन्होंने सगुण भक्ति से संबंधित सूर, तुलसी, मीरां, रसखान आदि भक्त कवियों पर बहुत मनोयोग और परिश्रम के साथ विचार किया है। सगुण में भी कृष्ण भक्ति पर उन्होंने बहुत डूबकर विचार किया है। अक्सर यह माना जाता है कि राधा-कृष्ण के प्रेम की कल्पना एक छोटे से क्षेत्र ब्रज तक सीमित है, लेकिन विद्यानिवास मिश्र की राय अलग है। उनके अनुसार उस क्षेत्र का भूगोल भले ही सीमित हो, लेकिन सदियों से ब्रज और वृंदावन, इस देश के मनुष्य के हृदय का हिस्सा बन गए हैं। उन्होंने इस संबंध में विचार करते हुए लिखा है कि—"यह सोचना कि जमुना के किनारे एक छोटे से क्षेत्र में श्रीकृष्ण और राधा के प्रेम की परिधि बनाकर उस उद्वेग का भावना की गई है, इसलिए यह बहुत संकुचित है, देश की बड़ी सच्चाई को अनदेखी करना है, क्योंकि गुजरात से लेकर बंगाल तक तो एक सनातन वृंदावन उन भक्त कवियों की वाणी से रच गया है और वैष्णव पदावली केवल पोथियों में नहीं रही, वह साक्षर-निरक्षर सभी के कंठ में बस गई है और यही नहीं, वह प्रत्येक अनुष्ठान में अपरिहार्य मंगल की विधि बन गई। यह संभव नहीं था यदि उसके पीछे व्यापक भावन नहीं होता।" सगुण भक्ति काव्य में सूरदास उनको विशेष प्रिय हैं। सूरदास पर उन्होंने विस्तार से एकाधिक बार विचार किया है। हिंदी आलोचना में सूरदास की अवहेलना से वे दुःखी हैं। यह बात उन्होंने एकाधिक बार कही है। उन्होंने एक जगह लिखा है कि—"सूर काव्य का चित्र खींचने वालों ने उनकी पार्श्व छवि ली है, जिससे उसकी समग्रता लोगों के सामने नहीं आती। किसी ने सूरदास को वात्सल्य का कवि माना है। किसी ने बालकृष्ण को उनका आराध्य माना है जबकि परिमाण और अनुतान में, दोनों ही दृष्टि से माधुर्य की प्रचुरता असंदिग्ध है। किसी ने उन्हें सिद्ध रूप लोकरंजक सौंदर्य का कवि माना है और साध्य रूप लोकमंगल की ऊंचाई का उनके काव्य में अभाव पाया है, जबकि कृष्ण के जन्म के बाद से सूर दुहराते रहते हैं कि श्रीकृष्ण शोभा के सिंधु हैं जो कहीं रुकते नहीं हैं।" सूरदास उनके अनुसार एक तो माधुर्य भक्ति धारा के कवि हैं, दूसरे, वे प्रभु कृष्ण के सौंदर्य पर अपना समस्त ऐश्वर्य न्यौछावर करते हैं और तीसरे, उन्होंने ब्रजभाषा को साहित्यिक रंग दिया। उनके अनुसार उनका मूल्यांकन नए सिरे से होना चाहिए। इसके लिए उन्होंने कुछ नए बिंदु सुझाए हैं। विद्यानिवास मिश्र मानते हैं कि सूरदास के मूल्यांकन के लिए एक तो 'सूरसागर' का क्रम निधारित होना चाहिए, दूसरे, सूरदास ने जगत् और लीला में जो अंतर किया है, उसकी पहचान हो और तीसरे, यह विचार करना चाहिए कि सूरदास के काव्य माधुर्य की

प्रतिष्ठा का प्रयोजन क्या है। विद्यानिवास मिश्र इसी तरह एक और सुझाव देते हैं। हिंदी आलोचना में इस बात पर व्यर्थ वाद-विवाद बहुत हुआ है कि सूरदास जन्मांध थे या बाद में अंधे हुए। सूरदास के अंधे होने संबंधी विवाद पर उनकी टिप्पणी अर्थपूर्ण और मार्गदर्शक है। वे उनके जन्मांध होने या बाद में अंधे होने के मत से अलग राय रखते हैं। उनकी यह राय एक भारतीय कवि हृदय समालोचक की राय है। वे कहते हैं कि—"सूरदास के संबंध में प्रायः यह विवाद सुनने को मिलता है कि वे जन्मांध थे या बाद में अंधे हुए, दोनों पक्ष अपने-अपने तर्क देते हैं पर आंख का होना और होकर चले जाना या आंख का शुरू से ही न होना, यह कोई महत्त्व नहीं रखता, क्योंकि सूर ने आंख से देखा ही नहीं। सूर ने आंख को देखा, उस आंख को देखा, जो सूर्य चंद्रमा के द्वारा से बाहर-भीतर के संसार को आलोक देती है। यह देखना, देखना नहीं है, यह देखना एक साथ और पाना, पाकर खोना है और खोकर पाना है।"

सूरदास के साथ तुलसीदास भी विद्यानिवास मिश्र को प्रिय हैं। 'रामचरितमानस' के मर्म का जिस तरह उद्घाटन उन्होंने किया, हिंदी में उसमें इतना गहरे शायद ही कोई गया हो। 'रामचरितमानस' के संबंध में उनकी राय बहुत ऊंची है। उनके अनुसार यह रचना संपूर्ण भक्ति आंदोलन का प्राण है। एक जगह उन्होंने उसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि—"भक्ति आंदोलन के संबंध में बड़ी भ्रांत धारणा फैली हुई है कि यह आंदोलन ज्ञान और विवेक का, कर्म और सामाजिकता का विरोधी आंदोलन रहा है। यदि ध्यान से भक्ति काव्य की सर्वश्रेष्ठ कृति गोस्वामी तुलसीदास के केवल एक काव्य 'रामचरितमानस' को ही पढ़ा जाए, तो स्पष्ट हो जाएगा कि विवेक और भक्ति में विरोध नहीं है और हिंदू धर्म ने सत्य और विवेक पर बल को और बढ़ाया है, कम नहीं किया है।" 'रामचरितमानस' पर विद्यानिवास मिश्र अभिभूत हैं। उनके अनुसार "अर्थ को इतनी गहराई संस्कृत के किसी महाकाव्य में नहीं है।" तुलसी के भाषिक योगदान की भी विद्यानिवास मिश्र ने एक तरह से पहली बार पहचान की है। उन्होंने लिखा है कि—"काव्य का एक संदेश होता है। उसकी एक भाषा होती है। ऐसा संदेश, ऐसी भाषा आज तक किसी ने नहीं दी। ऐसी भाषा, सशक्त भाषा जैसे कुम्हार मिट्टी को रोंदता है, फिर मनचाही आकृति देता है, उसी प्रकार तुलसी ने व्यवहार के शब्द, साहित्य के शब्द, पूर्ववर्ती साहित्य में आए शब्द, सबको सानकर, रौंदकर मनचाहा प्रयोग किया। शब्द की बड़ी साधना की है उन्होंने। ऐसी भाषा किसी के पास नहीं आई।" मीरां की कविता का मूल्यांकन भी विद्यानिवास मिश्र ने बहुत मनोयोग से किया है। मीरां के संबंध में हिंदी समाज में कई भ्रांतियां चलन में हैं। एक भ्रांति का निवारण उन्होंने बहुत युक्तिसंगत ढंग से किया है। अक्सर विद्वान मीरां की कविता में प्रयुक्त 'जोगी' या 'रावल' शब्द में नाथपंथ की छाया देखते हैं जो गलत है। उन्होंने इस संबंध में बहुत सटीक टिप्पणी की है। वे लिखते हैं कि "जोगी या रावल में नाथ पंथ की छाया देखने वाली बात बहुत कुछ सतह पर ही है। पदावली के सूक्ष्म विश्लेषण में कहीं भी योग की शब्दावली पर आधारित सादृश्य विधान नहीं मिलता। इसीलिए योगी का अर्थ उसका व्युत्पतिजन्य अर्थ सटीक लगता है। जोगी अर्थात् जो प्रेम से जुड़ गया और उसे साधने का मंत्र लेकर चला गया था, दूसरे शब्दों में कहें, समस्त अनुभव पर (प्रत्यक्ष या अपरोक्ष स्मृति रूप) छा गया। वे इस बात के भी पक्षधर हैं कि मीरां के काव्य सौंदर्य का मूल्यांकन उनकी रहस्याभूति से अलग भी किया जा सकता है। मीरां को उन्होंने कबीर से अधिक महत्त्व दिया है। उन्होंने एक जगह

लिखा है कि—देखने में मीरां समाज बाह्य है। उनके काव्य में बाह्य सामजिक आचार बाह्य सामाजिक स्तर भेदों के विरुद्ध वैसा ही विद्रोह है, जैसा कबीर में मिलता है, पर वे जिस भाव से साधना करती हैं उस दृष्टि से वे समाज को एक सूत्र में बांधने वाले भाव की बात करती है, जहां ऊंच-नीच नहीं है, बल्कि जो जितने नीचे कुल में हैं, जितनी ओछी जाति में हैं उतना ही प्रभु कृपा पात्र है। इसलिए मीरां भीलनी गोकुल की अहीरिन का बड़ा छोह से स्मरण मिया है।"

3.

भारतीय साहित्य और उसमें खासतौर पर हिंदी सूफी काव्य की आलोचना और मूल्यांकन विद्यानिवास मिश्र का सबसे प्रभावशाली है। प्रायः हिंदी आलोचक इस काव्य का मूल्यांकन में इसके इस्लाम से संबंधित होने के कारण दुविधा में रहे हैं, लेकिन विद्यानिवास मिश्र के यहां इसे लेकर कोई अंतर्बाधा नहीं है। उनकी दो टूक राय है कि सूफी काव्य भारतीय साहित्य का हिस्सा है। वे यह भी मानते हैं कि—"शिफत में रहते हुए भी दिव्य प्रकृति की पहचान करने वाली यह काव्यधारा हिंदी में विशिष्ट अध्याय रचती है।" वे यह भी मानते हैं कि भारतीय सामाजिक चेतना पर उसका गहरा और व्यापक प्रभाव है। एक जगह उन्होंने लिखा है कि—"विचार और भावभूमि, दोनों भूमियों में सूफी हिंदी काव्यधारा लोकचित्त और लोकस्मृति पर आधारित है और इसी से उसने पूरी सामाजिक चेतना पर गहरा प्रभाव डाला है, किसी भी मतीय य प्रचार या उपदेश से अधिक, किसी भी वैचारिक खोज से कहीं ज्यादा।" हिंदी में सूफी काव्य के नाम पर अक्सर केवल जायसी और 'पद्मावत' की चर्चा होती है। विद्यानिवास मिश्र हिंदी अकेले ऐसे विद्वान हैं, जो जायसी से अलग सूफी काव्य पर भी विचार करते हैं। उन्होंने 'हंस जवाहिर' और 'अनुराग बांसुरी' जैसे अपेक्षाकृत कम चर्चित सूफी प्रबंध रचनाओं पर विस्तार से विचार किया है। उन्होंने जायसी का उदाहरण देकर यह सिद्ध किया है हिंदी सूफी काव्य में अन्योक्ति विधान के बावजूद कविता है। उन्होंने एक जगह लिखा है कि—"हम सूफी काव्य को समझाने के लिए जितना भी प्रयत्न करें कि यह एक अन्योक्ति विधान है जिसमें, नायिका परसत्ता, नायक परसत्ता का चाहक है, संदेश देनेवाला गुरु है। वही रास्ता दिखलाता है। विघ्न बाधा के रूप में आने वाला पात्र माया शैतान है। अन्योक्ति में मन उतना नहीं रमता, जितना वर्णनों सरलता से रमता है। जायसी के 'पद्मावत' के वर्णनों की विद्यानिवास मिश्र जमकर सराहना करते हैं। एक जगह वे उदाहरण देते हुए लिखते हैं कि—"जब पद्मिनी अपना मायका छोड़ने लगती है तो वह इतने सहज ढंग से विलगाव को व्यक्त करती है कि लगता है कि साधारण गांव की लड़की किशोर सपनों का संसार छोड़ रही है। आंखें भर आती हैं, नैहर छूटना, नैहर छूटने के दिन बड़े कचोटते हैं, कितनी सखी-सहेलियां छूट रही हैं, आज अकेल जाना पड़ रहा है। यह वर्णन अन्योक्ति के अर्थ के बिना भी मनोरम है।" कासिमशाह के 'हंस जवाहर' और नूर मुहम्मद के 'अनुराग बांसुरी' के बारे में उनकी राय अलग है। उनके अनुसार इन दो काव्यों को छोड़कर हिंदी सूफी काव्य में कहीं भी अन्योक्ति विधान पर बल नहीं दिया गया है।

4.

हिंदी में रीति काव्य की बहुत समृद्ध परंपरा है और यह मध्यकालीन भक्ति काव्य की निरंतरता में है, लेकिन रामचंद्र शुक्ल के समय और बाद में जिस तरह इस काव्य की लानत-मलामत हुई, उससे हिंदी में इसका मूल्यांकन अच्छी तरह नहीं हो पाया। रामचंद्र शुक्ल की इससे संबंधित

धारणाएं इस साहित्य के मूल्यांकन में अंर्तबाधा बन गईं। विद्यानिवास मिश्र हिंदी एक तरह से पहले विद्वान हैं, जिन्होंने बहुत सहानुभूतिपूर्ण ढंग से हिंदी साहित्य के इतिहास के कथित रीतिकाल और इससे संबंधित कवियों पर विस्तार से विचार किया है। उनके विचार के इस दायरे में देव, पद्माकर, द्विजदेव आदि आते हैं। उन्होंने उत्तर मध्यकालीन इस कविता की कुछ विशेषताओं का उल्लेख किया है। उनके अनुसार एक तो इस काव्य को छोटे शासकों ने प्रोत्साहित किया, दूसरे, इसके कवि अपने कवि-कर्म को लेकर सचेत हैं, तीसरे, इन कवियों ने काव्य भाषा का परिष्कार किया और चौथे, यह काव्य पर्याप्त वैविध्य लिए हुए है। उत्तर मध्यकालीन कविता के संबंध में उनका निष्कर्ष है कि- "विस्तार में जाएंगे तो हिंदी कविता के उस पक्ष पर गर्व होगा और हम देखेंगे कि हमारी काव्यभाषा को बहुत कुछ उससे मिलता है और हमारी कविता की लोक दृष्टि भी उस कविता से यदि नकारात्मक प्रतिक्रिया के रूप में कुछ विकास है, तो सकारात्मक प्यार की व्यापकता के रंग में भी रंगी है।" रीतिकाव्य को अवहेलना भी विद्यानिवास मिश्र को विचलित करती है। अपने देव संबंधी विवेचन में उन्होंने अपनी इस चिंता को व्यक्त किया है। उनके अनुसार रीतिकाव्य को अवहेलना कविता की अवेहलना भी है। उन्होंने लिखा कि—"रीतिकाल के साथ दुहरा अन्याय हुआ, एक ओर तो उसे घोर सामंती विलासिता का काव्य मानकर विस्मृत किया गया, दूसरी ओर उसके कवियों को दरबारी कहकर मनुष्य कोटि से बाहर कर दिया, कभी किसी ने नहीं सोचा कि ये कवि भक्त कवि नहीं थे, भक्त थे और उनके पीछे आने वाले कवि भी भक्त थे, भले ही विरक्त और उस कोटि के पहुंचे हुए न हो पर पहले और बाद में वे कवि थे।" देव का मूल्यांकन उन्होंने इसी आधार पर किया। उनके अनुसार वे शृंगारी और भक्त, दोनों एक साथ थे। उन्होंने इस संबंध में लिखा कि—"देव कवि का रीतिकाल में विशिष्ट स्थान है, वे सबसे अधिक व्यापक अनुभव के कवि है। एक ओर वे लौकिक शृंगार में डूबे हुए हैं, तो दूसरी ओर घोर विरक्ति में वैराग्य की जो तीव्रता उनके 'वैराग्य शतक' में दिखती है, वह तुलसी जैसे संत कवियों की अभिव्यक्ति के समकक्ष है, परंतु उसे केवल उक्ति वैचित्र्य मान लिया गया।" एक जगह उन्होंने इस संबंध में अधिक विस्तार से विचार किया है। हिंदी रीतिकाल पर इस तरह विचार करनेवाले अपने समय में वे अकेले थे। उन्होंने लिखा कि—"रीतिकाल के बारे में यह धारणा बद्धमूल है कि इस काल की कविता सामंती और निकृष्ट कामुकता की कविता है, इसलिए उपेक्षणीय है। यह धारणा कालिदास, जयदेव और हाल की कविताओं से अपरिचित लोगों की होती, तो बात समझ में आती या फिर बीसवीं सदी के पूर्वार्ध के शुचितावादितापूर्ण नैतिक आग्रहवाले आलोचकों की थी, जिन्हें ग्रामगीत, विशेषकर होली गीत अश्लील लगते हैं, तो भी उनके ऊपर तरस करते हुए उनकी राय की अनदेखी की जा सकती है, परंतु देह के भूगोल की कविता के प्रशंसकों और कहानी-उपन्यासों में देहधर्म की बात करने वाले क्यों नाक-भौं सिकोड़ते हैं और रीतिकालीन कविता से मुंह फेर लेते हैं, यह तर्कातीत है।" पद्माकर की कविता के संबंध में विद्यानिवास मिश्र की राय है कि विलासिता और निकृष्ट कामुकता की तोहमत लगाकर उसकी अनदेखी हुई। पद्माकर की कविता के संबंध में उन्होंने लिखा कि "यहां मैं पद्माकर को केंद्र में रखकर उस प्रकार की कविता के संबंध में बात करने जा रहा हूं, इसलिए रीतिकाल की बातें भी सीधे पद्माकर के माध्यम से ही आगे करूंगा। पहली बात तो यह है कि देह, मनोभावों का गहरे निश्चल मनोभावों का तरंगित सागर है, वह उपेक्षणीय नहीं है। देह से अलग अध्यात्म की पहचान

एक विदेशी कला है। भारतीय कविता वैदिक युग से देह को ही आनंदधाम मानती आई है और नारी देह को पराशक्ति के उन्मीलन का दर्पण नहीं, लताकुंज मानती आई है। दूसरी बात यह कि पद्माकर जैसे समर्थ कवियों ने अकेले देह की बात नहीं की, देह से उठने वाली उन भीतरी लपटों की बात भी की, जिन्हें प्यार कहते हैं।" रीतिकालीन कवि द्विजदेव की अद्वितीयता पर भी विद्यानिवास मिश्र ने विचार किया है। उन्होंने द्विजदेव के संबंध में लिखा कि—"उनकी कविता की योजना रीतिकालीन होते हुए भी कुछ भिन्न धरातल पर है, जिसमें निरहंकार भाव से अपनी रचना वाग्देवता को समर्पित करते रहते हैं। काव्य के आदि और अंत में यही भाव प्रवाहशील दिखाई पड़ता है। इसकी प्रासंगिकता कुछ कम नहीं है। मैं इतना कह सकता हूं कि रीतिकालीन काव्य रचना को सजगता की देवी के साथ उस तरह जोड़ना सचेत काव्य कला के युग का शुभारंभ है।"

5.

विद्यानिवास मिश्र ने उन हिंदी कवियों—विद्यापति, अमीर खुसरो, रसखान और रहीम की कविता पर भी पर भी विचार किया है, जो हिंदी के पारंपरिक वर्गीकरणों की किसी श्रेणी में नहीं आती। विद्यापति के संबंध में उनका मानना है कि उन पर बंगाल, मिथिला और नेपाल तीनों दावा करते हैं। विद्यापति की बहुमुखी प्रतिभा के वे कायल हैं। विद्यापाति को केवल दरबारी कवि तक सीमित करने के वे खिलाफ हैं। उनके अनुसार "कुछ लोगों ने विद्यापति को दरबारी कवि माना है और यही कहते हैं कि वे राधाकृष्ण के शृंगार के पद लिखते थे और राजा के रनिवास में ये पद रानी का मनोरंजन करते थे। ये लोग यह नहीं देखना चाहते कि हलवाहे से लेकर संत तक, यहां तक कि चैतन्य महाप्रभु तक को विद्यापति ने अभिभूत कर रखा है।" विद्यानिवास मिश्र देशभाषा की प्रतिष्ठा में विद्यापति को योगदान का स्मरण करना नहीं भूलते। उन्होंने एक जगह लिखा है कि—''संस्कृत का प्रकांड पंडित होते हुए भी वे 'देसिल बैना के 'सब जन मिट्ठा' के साक्षात्कारकर्ता हैं। कबीर मीरां और तुलसी की भाषा के 'बहते नीर' के वे मुख्य स्रोत हैं।" खुसरो के बारे में उनकी राय बहुत ऊंची है। साफ की भाषा के संबंध में उनके विचार बहुत नए और अलग हैं। उन्होंने लिखा है कि—"मैं साफ के बारे में जब सोचता हूं तो बड़ा सुखद अचरज होता है। तेरहवीं सदी में हिंदी भाषी क्षेत्र के हृदय दोआबे के पटियाली गांव जन्मा एक विदेशी सामंत का लड़का, जो अपने नाना नवाब एमादुल्मुल्क की देखरेख में फारसी-अरबी-तुर्की की शिक्षा से संपन्न हुआ, मनोविनोद या लोकप्रियता के लिए नहीं, बल्कि एक भीतरी आस्था में हिंदी लिखने के लिए प्रवृत्त हुआ कि (उन्हीं का उद्धरण है कि) हिंदी फारसी से अच्छी है, क्योंकि वह दूसरी भाषा को अपने में मिलने नहीं देती। शरीर की सभी वस्तु का मेल हो सकता है, किंतु प्राण से नहीं हो सकता। सबसे अच्छा धन वह है जो अपने कोष में बिना मिलावट के हो और न रहने पर ही पूंजी मांगकर पूंजी बनाना होता है, क्योंकि उसमें मिलावट का स्थान नहीं है। फारसी में अरबी की मिलावट ऐसे हो गई है, जो उसके प्राणों से मेल नहीं खाती। कंपोजिट कल्चर का रूप मिलावट में नहीं निखरता है, निखरता है साफ जैसे विद्वान और सहृदय की दूरदर्शिता में।" खुसरो की हिंदी रचनाओं की अनुपलब्धता से विद्यानिवास मिश्र चिंतित हैं। उन्होंने एक जगह लिखा है कि—"यह अत्यंत दुर्भाग्य की बात है कि अमीर खुसरो ने जिस भाषा की रचना को इतना प्यार किया कि उसे अपने प्रिय मित्रों को भेंट किया, उस भाषा में रचित उनकी असंख्य पंक्तियों में से कुल दो-ढाई सौ रह गई हैं। लगता है कि

उनके मित्र भी ऐश्वर्य में बह गए—उन्होंने प्यार की भाषा का मूल्य नहीं आंका और वे ही पंक्तियां रह गई हैं, जो पहेलियां या मुकरियां हैं या थोड़े से संगीत के घरानों में चले आ रहे बोल हैं। उनकी दो रचनाओं का उल्लेख मिलता है—'हालात-ए-कन्हैया' और 'तरान-ए-हिंदी'। दोनों अब अप्राप्य हैं।" रहीम और रसखान की कविता के बहाने से उन्होंने पूरे भक्तिकाल की पहचान को नए सिरे से गढ़ा है। उन्होंने इस संबंध में लिखा है कि—"भक्तियुग ने विशाल मानवीय बोध जगाया, इसी कारण रहीम, रसखान व्यापक भाव बोध में साझीदार हुए। लोगों ने मान लिया कि भक्तिकाल हिंदू नवजागरण का काल है। भक्तिकाल के लोगों ने इस रूप देखा ही नहीं कि वह संपूर्ण मानव जागरण का काल है—मनुष्य के भीतर सोए हुए विराट अनुराग का जागरण का काल है।'' रहीम के सामंती और कवि व्यक्तित्व पर उन्होंने बहुत अर्थपूर्ण टिप्पणी की है। उन्होंने लिखा कि—"मैंने जब रहीम का काव्य पढ़ा, तो मुझे लगा कि रहीम का पूरा जीवन-चाहे राजसी विलास करते समय, चाहे दर-दर मारे फिरते समय, चाहे फतह करते समय, चाहे कुचालियों के विश्वासघात से शहंशाह के क्रोध का पात्र होते समय एक आंवां था जो भीतर-ही-भीतर दहकता रहा।" रसखान को उन्होंने ऐसे 'प्रेम पंथ का यात्री' कहा है, जो कमल तंतु से अधिक कोमल और तलवार की धार से अधिक तेज है। रसखान के कवि व्यक्तित्व पर भी उन्होंने विचार किया है। एक जगह उसका विश्लेषण करते हुए उन्होंने लिखा है कि—"रसखान सच्चे अर्थ में मरजीवा कवि हैं। वे ऐसी बेखुदी के शिकार हो गए हैं कि वे रसखान भी नहीं रह पाते, वे सबकुछ भूल जाते हैं, पर वह भूल नहीं भूलते, जो उनसे एक बार हो गई है। वह भूल यह हुई कि वे श्रीकृष्ण से प्यार कर बैठे।" रसखान की कविता भी असाधारण है। विद्यानिवास मिश्र ही इसे समझते हैं। वे लिखते हैं कि "रसखान की कविता निरंतर एक दृश्य देखती रहती है और दृश्य कभी पुराना नहीं पड़ता—श्रीकृष्ण के केश गोरज में सने हैं, छाती पर बनमाला लहलहाती हुई, आगे गायें, पीछे ग्वाल-बाल, जितनी वंशी की मधुर ध्वनि, उतनी ही मधुर बांकी आंखों की चितवन और उतनी मधुर मंद-मंद मुस्कान, इस धज के साथ कृष्ण गांव के कदंब वृक्ष के पास आ गए हैं।"

■■■